सुविधाओं की मुस्कान बनाम ज़िंदगी की घिचपिच

लोकतंत्र का परिसर और घुमंतू समुदाय

रमाशंकर सिंह

ठहरा हुआ है ख़ानाबदोशों का कारवाँ
उनकी कहीं ज़मीन, न उनका कहीं मकाँ
फिरते हैं यूँ ही शामो-सहर ज़ेरे आसमाँ
असराल-उल-हक़ मजाज़[1]

भारत की लोकतांत्रिक व्यवस्था ने कमज़ोर तबक़ों को ताक़त दी है। मताधिकार द्वारा उन्होंने एक ख़ामोश क्रांति को अंजाम दिया है। इस विषय पर विपुल लेखन मौजूद है। भारत की पिछड़ी जातियों की राजनीति पर काफ़ी शोध हुआ है।[2] लेकिन इस विमर्श की कुछ सीमाएँ भी हैं। दलित-लोकवृत्त की निर्मिति पर अनुभवमूलक अंतर्दृष्टि के साथ विद्वानों ने यह तो समझाया है कि दलित राजनीति अपना आधार लिखित और मौखिक रूप से किस प्रकार तैयार करती है,[3] लेकिन दूसरी तरफ़ वास्तविक राजनीतिक अखाड़ों में घुमंतू समुदायों के जीवन और उनकी राजनीति पर ध्यान नहीं दिया गया है। इस बात पर चर्चा लगभग न के बराबर है कि व्यापक लोकतांत्रिक दायरों में घुमंतू और विमुक्त समुदाय किस प्रकार अपनी राजनीति बना रहे हैं। किसी क्रांति को अंजाम देने के बजाय उन्होंने कौन सी गुंजाइशें निकाली हैं जिनके माध्यम से वे अपना जीवन बदलने का प्रयास करते हुए अपने लिए एक राजनीतिक दायरा तैयार कर रहे हैं। इस राजनीतिक दायरे को मुख्यधारा के अकादमिक और राजनीतिक विमर्श अनदेखा करते रहे हैं। यह परचा उत्तर प्रदेश में घुमंतू और विमुक्त समुदायों की दशा को एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखते हुए वर्तमान लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में उनकी भागीदारी,

---

[1] असराल-उल-हक़ मजाज़ (2010). मज़ाज का जीवनकाल 1911 से 1955 के बीच का है. उर्दू कविता के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर : 97.

[2] आंद्रे बेते (1992).

[3] बद्री नारायण (2011).

राज्य से उनके प्रतिदिन के मोलभाव और लोकतंत्र में उनकी अवस्थिति को रेखांकित करना चाहता है। यह परचा बताना चाहता है कि उत्तर प्रदेश में पिछले दो-तीन दशकों में जो राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन हुए हैं, उसने इन समुदायों को किस प्रकार पंचायती राज संस्थाओं के माध्यम से भारत की बृहत्तर राजनीतिक संरचनाओं से जोड़ दिया है।

'न ठाकुर न बाभन इहै वोटवा हम सबका बचावत हय' (न तो ठाकुर और न ही ब्राह्मण, यह वोट है जो हमें बचा लेता है)। यह बातें एक नौजवान ने उस समय कही थीं जब मैं उससे पूछ रहा था कि कोई संकट आने पर क्या गाँव की ऊँची जातियों के लोग उसकी मदद करते हैं? और यदि करते हैं तो क्यों करते हैं? यह नौजवान महावत समुदाय का था जिसके बारे में आप इस लेख के अगले भागों में पढ़ेंगे। महावत सहित कई अन्य घुमंतू और विमुक्त समुदाय उत्तर प्रदेश के सामाजिक जीवन की रचना करते हुए उसमें सांस्कृतिक और आर्थिक रूप से आवाजाही करते रहते हैं। इस आवाजाही को रेखांकित करना भी इस लेख का उद्देश्य है।

I

भारत में मानविकी विषयों में घुमंतू एवं विमुक्त जनों पर लेखन की संवेदनशील शुरुआत उन इलाक़ों में हुई जिनमें इन समुदायों के ऊपर होने वाले अत्याचारों को लेकर एक बेचैनी मौजूद थी। इस बेचैनी को महाश्वेता देवी और गणेश नारायण देवी ने आवाज़ दी। फ़रवरी, 1998 में पश्चिम बंगाल के पुरुलिया ज़िले में बूधन नामक व्यक्ति की पुलिस हिरासत में हत्या कर दी गयी। बूधन शबर समुदाय का युवक था। वह ग़रीब था और उसे चोर कह कर पुलिस थाने में पीटा गया था। पिटाई से उसकी मौत हो गयी। साहित्यकारों, संस्कृतिकर्मियों और नागरिक समाज द्वारा इस घटना का देशव्यापी विरोध हुआ। इसी दौर में बूधन की पुलिस हिरासत में हुई मौत पर गणेश देवी और उनके साथियों ने 'बूधन बोलता है' नाटक लिख कर देश के कई हिस्सों में मंचित किया। पीड़ा, अपमान, कलंकीकरण और बहिष्करण में समान धरातल पर होने के कारण देश भर के घुमंतू और विमुक्त जनों ने इसे अपनी पीड़ा और ज़ुल्म का दस्तावेज़ माना।[4]

घुमंतू और विमुक्त जनों के इन अनुभवों को समझने के लिए हमें पूर्व-आधुनिक भारत में राज्य की निर्मिति और उसके औपनिवेशिक अतीत को समझना होगा जिसमें समाज के प्रभुत्वशाली तबक़ों और राज्य के बीच गठजोड़ की केंद्रीय उपस्थिति थी।[5] इसी गठजोड़ के तहत पुलिस और इलाके के ज़मींदारों ने इन समुदायों को चोर और अविश्वसनीय क़रार दिया। यह गठजोड़ एक ऐतिहासिक प्रक्रिया की उपज है। इसमें राज और समाज दोनों शामिल थे। अंग्रेज़ भारत आये और अपनी औपनिवेशिक परियोजनाओं के मुताबिक़ उन्होंने अपनी राय क़ायम की। वास्तव में औपनिवेशिक भारत में मानव-विज्ञान या एंथ्रोपोलॉजी यहाँ के सामाजिक जीवन के बारे में सूचनाएँ एकत्र कर समाज के विश्लेषण करने की आधिकारिक परियोजना थी। यहाँ तक कि वरिष्ठ पुलिस अधिकारी मानवशास्त्रियों के रूप में नियुक्त किये जा रहे थे। इसमें जाति और प्रजाति के बारे में जो सूचनाएँ एकत्र की जा रही थीं, उन्होंने कई समुदायों को एकबारगी बहिष्कृत और कलंकित करने का आधार प्रिंट रूप में उपलब्ध करा दिया, विशेषकर उन समुदायों के लिए जो 'समाज की मुख्यधारा' में नहीं आते थे।[6] उन्हें ताबेदार बनाने का एक नैतिक आधार खोजने का प्रयास किया गया। इस आधार के बारे में बात करते हुए क्लॉड लेवी-स्त्रॉस ने कहा भी था कि यह एक ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम रहा है जिसने मानवता

---

[4] इसके सम्पूर्ण वृत्तांत के लिए देखिए जी.एन. देवी (2006); यह भी देखें, जी.एन. देवी (2002) : 245-72.

[5] जी.एन. देवी (2002).

[6] निकोलस डर्क्स (2015); इसके अलावा देखें, सुमित गुहा (1998) : 423-41.

के एक बड़े भाग को दूसरे भाग का ताबेदार बनाया है। इस दौरान दसियों लाख लोग अपने संसाधनों की लूट के गवाह बने, उन्हें निर्दयतापूर्वक मारा गया, उनकी संस्थाएँ और आस्थाएँ नष्ट कर दी गयीं। उन्हें दासता में धकेल दिया गया और वे ऐसी बीमारियों से संक्रमित हो गये जिनका उपचार उनके वश में नहीं था। मानव-विज्ञान हिंसा के इसी युग की संतान है।[7]

यह हिंसा अंग्रेज़ी सरकार द्वारा भारतीय समाज को गुलाम बनाते समय कई समुदायों पर ढाई गयी। उनका सम्मान छीन कर उन्हें इतिहास से बेदख़ल कर दिया गया। इस बेदख़ली के औपनिवेशिक आधारों को स्पष्ट करते हुए मीना राधाकृष्णन ने इन समुदायों को 'इतिहास से बेइज़्ज़त किये गये लोग' क़रार दिया है।[8] इतिहास द्वारा की गयी इस अवमानना के मूल में भारत का सदियों पुराना वह राजनीतिक अनुभव रहा है जिसमें राज्य ने अपनी जद में प्रत्येक निवासी को शामिल करने का प्रयास किया था। यहाँ मैं 'नागरिक' शब्द का इस्तेमाल जानबूझ कर नहीं कर रहा हूँ। इस शब्द की व्याप्ति और घुमंतू तथा विमुक्त समुदायों के जीवन पर इसके असर को आप आधुनिक भारत में देख सकते हैं जिसके बारे में इस लेख के अंतिम भाग में चर्चा की गयी है। नागरिकता एक स्थायी जीवन और पते की माँग करती है जबकि घुमंतू और विमुक्त जन तो पताविहीन समुदायों से ताल्लुक़ रखते रहे हैं। ऑक्सफ़र्ड एडवांस्ड लर्नर्स डिक्शनरी *नोमैड* शब्द का अर्थ बताती है— 'अ मेंबर ऑफ़ अ कम्युनिटी दैट मूव्ज़ विद इट्स एनीमल फ़्रॉम प्लेस टू प्लेस'[9] — उस समुदाय का सदस्य जो अपने जानवरों के साथ इस जगह से उस जगह घूमता-फिरता रहता है। घुमंतू समुदाय अपनी जीवन-शैली से राज्य की आधुनिक संरचना के बाहर रह जाते हैं। वे राज्य की उस निर्मिति में समाहित नहीं हो पाते जो अपने नागरिकों को विभिन्न प्रकार के पहचान-पत्रों और सुशासित दायरों में सीमित करने का प्रयास करती है।

II

पूर्व-आधुनिक भारत में राज्य बहुत मज़बूत नहीं था। इसलिए वह अपने निवासियों पर एक ढीला-ढाला नियंत्रण ही रख सकता था। मौर्यकाल में राज्य मज़बूत हुआ। समाज पर राज्य का वर्चस्व बढ़ा। विभिन्न जातियाँ राज्य की सीधी नज़र में आ गयीं। ऐसा कोई समूह नहीं बचा जिस पर राज्य ने कर न लगाया हो या उस पर कर का प्रभाव न पड़ा हो। कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* की चिंता का विषय उस समय की जाति-व्यवस्था नहीं है, लेकिन यह ज्ञात होता है कि राज्य ने भूमि और वनों में रहने वाली जातियों में अंतर करना प्रारम्भ कर दिया था। वनों में रहने वाले समूह एक आदर्श 'जनपद' का अंग नहीं माने गये।[10] इसी प्रकार घुमंतू समुदायों, कलाबाज़ी और करतब दिखाने वाले समूहों के लिए राज्य ने एक दूसरा दृष्टिकोण अपनाया। *अर्थशास्त्र* राज्य के अंदर जनपद की आबादी बढ़ाने की सलाह देते हुए स्थायी बसावट को महत्त्व देता है। उसने राय दी कि प्रत्येक जनपद में कम से कम सौ घर और अधिक से अधिक पाँच सौ घर वाले ऐसे गाँव बसाने चाहिए जिसमें प्राय: शूद्र और किसानों की संख्या अधिक हो।[11] इस प्रकार कुछ समूहों का राज्य की शारीरिकी में समाहित होना महत्त्वपूर्ण था। एक तरफ़ जहाँ राज्य ने स्थायी बस्तियों को महत्त्व दिया और उसकी शारीरिकी में विभिन्न वर्ण, जातियाँ, मज़दूर और शिल्पी समाहित किये गये, वहीं जनपदों में घुमंतू जनों के आगमन को प्रतिबंधित कर दिया गया।[12] घुमंतू जनों के पेशों के बारे में *अमरकोश* बताता है कि वे नाचने, गाने और करतब

---

[7] क्लाउड लेवी-स्त्रॉस (1976) : 54-55.
[8] मीना राधाकृष्णन (2001).
[9] ऑक्सफ़र्ड एडवांस लर्नर्स डिक्शनरी : 1035.
[10] आलोका पाराशर-सेन (2004).
[11] पैट्रिक ओलिवेल (2014) : 98.
[12] वही.

पंचायती राज घुमंतू जातियों के लिए बड़ी गुंजाइश लेकर आया है। एक बार किसी गाँव की मतदाता सूची में शामिल होने के बाद उन्हें लोक सभा और विधानसभा में वोट डालने का अधिकार स्वतः मिल जाता है और वे राष्ट्र की राजनीतिक आत्मा से जुड़ जाते हैं। वास्तव में रिश्तेदारियों द्वारा घुमंतू समुदाय अपना एक सांस्कृतिक संजाल बुन देते हैं। रिश्तेदार न केवल एक दूसरे की मदद करते हैं बल्कि वे उनके आचरण और चरित्र के गारंटर के रूप में काम करते हैं।

दिखाने के लिए जाने जाते थे। इस ग्रंथ में नटों के छह नाम दिये गये हैं— शैलालिन, शैलूष, जायाजीव, कृशाश्वी, भरत और नट। चारण या बंदी जनों के दो नाम दिये गये हैं— चारण और कुशी लव।[13] *अमरकोश* गुप्तकाल में कभी लिखा गया और इसी समय पुराण लिखे जाने शुरू हुए। पुराणों में लिखित रूप में वंशावलियाँ हैं। पुराणों के लिखे जाने से पहले घुमंतू जन वंशावलियाँ गाया करते थे। उनका पेशा ही वंशावलियों को सुरक्षित रख कर उन्हें पीढ़ी दर पीढ़ी स्थानांतरित करना था। विश्वंभर शरण पाठक[14] और रोमिला थापर के अध्ययनों से पता चलता है कि सूत, मागध और कुशी लवों ने एक लम्बे समय तक इतिहास को सुरक्षित रखा। वंशक्रम आधारित समाज में उनका काफ़ी सम्मान था। जब समाज जाति-पदानुक्रम में ढला तो उनका सम्मान कम हो गया।[15] इसलिए *अमरकोश* में इन समूहों को निरादृत वर्गों के बीच पाने पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

ए.एल. बाशम ने लिखा है कि आठवीं शताब्दी में अरबों की सिंध-विजय के बाद मनोरंजन करने वाले समूह यूरोप और अफ़्रीका तक जाते थे। पाँचवीं शताब्दी में ससानी राजा बहराम गूर ने दस हज़ार संगीतज्ञों को आमंत्रित किया और उन्हें पशु, अन्न और गधे दिये, जिससे वे वहाँ बस सकें। उन्होंने पशुओं और अन्न को खा लिया और पहले की तरह घूमते रहे।[16] लेकिन यह घूमना निरुद्देश्य नहीं होता था। इसकी अपनी सामाजिक-आर्थिक पारिस्थितिकी थी। मजबूत होने के बावजूद मध्यकालीन राज्य परिवहन के साधनों पर उतनी पकड़ नहीं रखते थे जितनी आधुनिक राज्य रखता है। ऐसे में घुमंतू समूह परिवहन का हिस्सा थे। घोड़ों, खच्चरों, ऊँटों और बैलों के कारवाँ के ज़रिये उन्होंने

---

[13] अमर सिंह का *अमरकोश* (1995).
[14] विश्वम्भर शरण पाठक (2007).
[15] रोमिला थापर (2013) : 228.
[16] ए.एल. बाशम (2004) : 515-16.

पूरे उपमहाद्वीप को जोड़ दिया था। इसी दौर में मध्यकालीन भारत में नगरीकरण बढ़ रहा था और शहरों का गाँवों से जुड़ाव सघन हो रहा था। घुमंतू इस जुड़ाव में बीच की कड़ी थे। वे लद्दू पशुओं पर अनाज लादकर क़स्बों और बाज़ारों तक ले जाते थे। हिंदुस्तान के निवासियों के जीवन और परिस्थितियों के बारे में लिखते हुए के.एम. अशरफ़ बताते हैं कि इनमें से कुछ के पास तो चालीस हज़ार तक बैल होते थे।[17]

III

औपनिवेशिक ज्ञानमीमांसा के तर्क और घुमंतू-विमुक्त समुदाय

ब्रिटिश शासन ने भारत के विभिन्न समुदायों का प्रजाकरण किया। इस प्रजा को उसने कई श्रेणियों में वर्गीकृत किया। उसने औपनिवेशिक मानव विज्ञान से उपजी सूचनाओं को ज्ञान में और ज्ञान को सामान्य समझ के रूप में पुनरुत्पादित किया।[18] ज्ञान और समझ का यह पुनरुत्पादन कई परिधीय समुदायों के लिए लिए काफ़ी हानिकारक साबित हुआ। जैसी प्रजा औपनिवेशिक शासन चाहता था, उस प्रकार की प्रजा की अवधारणा में वनों में रहने वाले और चरवाही संस्कृति के लोग अँट नहीं पाते थे। फलत: जनगणना रजिस्टरों, मानववैज्ञानिक अध्ययनों, प्रशासकीय विवरणों में ऐसे समुदायों को राजनीतिक विवेक और सभ्यता से हीन समूहों के रूप में चित्रित किया जाने लगा। ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति हुई थी, इसके बाद बाड़ाबंदी की गयी और कृषि के दायरे से अतिरिक्त श्रम शहरों की ओर कूच करने को बाध्य हुआ। दूसरी तरफ़ कृषि का भी आधुनिकीकरण हुआ। इसके विपरीत भारत में कृषक जीवन-पद्धति से बाहर एक बड़ा समूह था। इस समूह में वनों में रहने वाले समुदाय थे। उनका वन से जुड़ाव था जो उनके जीवन को निर्धारित करता था। इस जुड़ाव को औपनिवेशिक शासन ने न केवल भंग कर दिया बल्कि उसने किसानों से परिपूरित गाँव का विचार प्रसारित किया।[19] आधुनिक समयों का इतिहास लिखते हुए इतिहासकारों का ध्यान इस ओर गया है कि राज्य प्रायोजित सिंचाई परियोजनाओं और भूमि को सम्पत्ति बना देने के बाद किस प्रकार चरागाही और घुमंतू जीवन प्रणालियाँ बहिष्करण का शिकार होती गयीं।[20] ब्रिटिश शासन के दौरान विकसित भूमि व्यवस्था में 'शामिलात देह' एक ख़ास भूमि होती थी। इस पर पशुओं को चराया जाता था। भूमिहीन घुमंतू चरागाही जनों को किसानों से परिपूरित गाँव की कल्पना से बहिष्कृत कर दिया गया।[21] यहाँ तक कि रियासती हैदराबाद में तो लम्बाडा समुदाय के लोगों को अनाज का व्यापार छोड़ने के लिए बाध्य किया गया। जब उन्होंने पशुओं से जीविका चलाने का प्रयास किया तो उनके पशु भी पुलिस के रजिस्टर में आ गये।[22]

1871 में क्रिमिनल ट्राइब एक्ट पास किया गया। इस एक्ट को पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत, पंजाब और अवध में लागू किया गया। इसने पुलिस को बहुत अधिकार दिये। समुदायों को पुलिस थाने में जाकर अपना पंजीकरण करवाना होता था। पुलिस उन्हें एक लाइसेंस देती थी। वे पुलिस की अनुमति के बिना ज़िले से बाहर नहीं जा सकते थे। यदि वे अपना स्थान बदलते तो इसकी सूचना पुलिस को देनी होती थी। बिना पुलिस की अनुमति से यदि समुदाय का कोई सदस्य एक से अधिक बार अपनी बस्ती या गाँव से अनुपस्थित रहता था तो उसे तीन वर्ष तक के कठोर कारावास का भागीदार होना

[17] के.एम. अशरफ़ (1970) : 136-38.
[18] रमाशंकर सिंह (2015) : 261.
[19] सुमित गुहा (1999).
[20] सुमित सरकार (2014) : 91-92.
[21] वही : 92.
[22] भूंग्या भूक्या (2010) : 73-116.

पड़ता था।[23] उनके लिए स्पेशल रिफ़ॉर्म कैम्प की भी व्यवस्था की गयी जिसमें उन्हें सुधारा जाना होता था। इसका एक प्रभाव यह पड़ा कि घुमंतू लोग बसने लगे और इसी के साथ उनकी बस्तियाँ पुलिस की सीधी नज़र में आने लगीं। इसके बाद इन बस्तियों को कलंकित बस्ती होने में देर न लगी।

इस प्रकार 1871 के एक्ट से एक हीनतर सामाजिक स्पेस की रचना की गयी। मीना राधाकृष्णन दिखाती हैं कि किस प्रकार 1871 के क्रिमिनल ट्राइब एक्ट से स्थानीय ज़मींदारों को जोड़ दिया गया था जिसमें ज़मींदारों को न केवल पंजीकरण में पुलिस की सहायता करनी होती थी बल्कि वे पंजीकृत समुदायों के सदस्यों की खोज-ख़बर भी रखते थे।[24] पूरे देश में इस एक्ट के अधीन दो सौ के लगभग समुदाय अपराधी जनजाति घोषित कर दिये गये।[25] भारत के सामाजिक और विधिक क्षेत्र में घुमंतू समुदायों के लिए यह एक सामूहिक हादसा था। पचास वर्ष बाद 1921 में क्रिमिनल ट्राइब एक्ट का विस्तार किया गया और कई अन्य समुदाय इस क़ानून की जद में ले आये गये। देश को 1947 में आज़ादी मिली, भारत का संविधान बनाया गया और सबको बराबरी का हक़ मिला कि वे वोट डाल सकें। 1952 में उन समुदायों को विमुक्त समुदाय का दर्जा दिया गया जो क्रिमिनल ट्राइब एक्ट के तहत अपराधी घोषित किये गये थे। यह एक प्रकार से यह बताना था कि अमुक समुदाय अब अपराधी नहीं रह गये हैं! यह इस क़ानून की बिडंबना थी कि उन्हें एक पहचान से मुक्त कर दूसरी कम अपमानजनक पहचान से नवाज़ दिया गया। 1959 में हैबीचुअल ऑफ़ेंडर एक्ट ने फिर पुलिस का ध्यान उन्हीं समुदायों की ओर मोड़ दिया जो अब विमुक्त थे। यह सब आज़ाद भारत में हो रहा था।

हिंदी साहित्य के दर्पण में उपनिवेश का चेहरा

संदेह, बेईमानी और चोरी में लिप्त समुदायों की औपनिवेशिक धारणा को उत्तर भारत में रचे गये आधुनिक हिंदी साहित्य ने भी अपना लिया। हिंदी साहित्य के व्यापक संसार में घुमंतू जन अपना कोई आंगिक साहित्य नहीं रच सके, जबकि हिंदी भाषी प्रदेशों में उनकी पर्याप्त संख्या है। हिंदी के साहित्यकारों ने उनके बारे में जो कुछ लिखा है, वह एक ख़ास क़िस्म के औपनिवेशिक ज्ञान का पुनरुत्पादन है। औपनिवेशिक भारत में प्रेमचंद ने अपनी कहानी *प्रेम का उदय* में एक कंजर दम्पती की कहानी कही है। इस कहानी में पत्नी बंटी अपने पति भोंदू को चोरी करने के लिए यह कह कर उकसाती है कि समुदाय के अन्य सदस्य तो चोरी करते ही हैं, इसलिए उसे भी करनी चाहिए। यह औपनिवेशिक भावबोध का आभ्यंतरीकरण था। हालाँकि प्रेमचंद ने इस कहानी में हृदय-परिवर्तन के अपने कथा-शिल्प द्वारा एक सुखद अंत किया है लेकिन वे उस औपनिवेशिक निर्मिति को हिंदी साहित्य में ला रहे थे जिसे उनके समय के मानव-विज्ञान ने लोकप्रिय बनाया था।

रांगेय राघव ने 1957 में राजस्थान के एक घुमंतू समुदाय *करनट* के बारे में *कब तक पुकारूँ* नामक उपन्यास लिखा। यह उपन्यास हिंदी के बहुपठित उपन्यासों में गिना जाता है। रांगेय राघव ने इस उपन्यास को प्रामाणिक तरीक़े से लिखने का प्रयास किया और उपन्यास की शुरुआत में उन्होंने दो पृष्ठों की एक भूमिका लिखी जिससे पाठक उपन्यास को आसानी से पढ़ सकें। इस भूमिका का पहला ही अनुच्छेद इस प्रकार शुरू होता है : नट कई तरह के होते हैं। इनमें करनट जरायमपेशा कहे जाते हैं। इनकी कोई नैतिकता नहीं होती। इसमें मर्द औरत को वेश्या बनाकर उनके द्वारा धन कमाते हैं। ज़्यादातर ये लोग चोरी आदि करते हैं और ढोल मँढ़ना, हिरन की खाल बेचना इनका काम है।[26] इस प्रकार की

---

[23] मीना राधाकृष्णन (2001) : 27-44.

[24] वही.

[25] जी.एन. देवी (2013) : 5.

[26] रांगेय राघव (2013). यही बात ई.ए.एच. ब्लंट और डी.एन. मजूमदार भी कह रहे थे. ई.ए.एच. ब्लंट नटों को चोर मानते हैं. ब्लंट लिखते हैं कि उनकी औरतें मुख्यत: वेश्या होती हैं. देखें, ई.ए.एच. ब्लंट (1969) : 150-51. मानवविज्ञानी डी.एन. मजूमदार ने अपराधी जनजातियों के बारे में जो लिखा है, उसे प्रेमचंद, रांगेय राघव और शिवप्रसाद सिंह के लेखन में देखा जा सकता है. देखिए, डी.एन. मजूमदार (1944) : 188.

भूमिका की पृष्ठभूमि में पाठक उपन्यास के नायक सुखराम के जीवन-संघर्ष को पढ़ता-समझता है। वह इस समुदाय की औरतों की देह पर ढाए जा रहे अत्याचार के लिए पहले ही अपने को तैयार कर चुका होता है। उसे पहले से ही पता है कि इस समुदाय के लोगों की कोई नैतिकता नहीं होती। इसमें मर्द औरत को वेश्या बनाकर उनके द्वारा धन कमाते हैं। तो क्या सुखराम अपनी प्रेमिका की देह से धन कमा रहा है? यह सवाल बहुत सतही लग सकता है लेकिन इस प्रकार की पूर्वधारणाओं ने इन समुदायों को एक सांस्कृतिक सदमा ज़रूर पहुँचाया है। हालाँकि रांगेय राघव की कहानी *गदल* घुमंतू समुदाय की एक स्त्री और उसकी बहादुरी को बहुत मार्मिक ढंग से रखती है।

इसी प्रकार पूर्वी उत्तर प्रदेश के घुमंतू समुदायों के जीवन पर शिवप्रसाद सिंह ने लिखा है।[27] *शैलूष* में बनारस के निकट के इलाक़ों में नटों के जीवन और उनकी सामाजिक-आर्थिक जीवन-शैली को बृहत्तर दुनिया की राजनीतिक समस्याओं से जोड़ा गया है। मैत्रेयी पुष्पा ने *अल्मा कबूतरी* में बुंदेलखण्ड के कबूतरा समुदाय का जीवन प्रस्तुत किया है।[28] अंग्रेज़ों ने इस जाति को जरायमपेशा घोषित किया था, किंतु यह समुदाय अपना संबंध रानी पद्मिनी, राणा प्रताप और झाँसी की रानी की प्रिय सखी झलकारी बाई से जोड़ कर अपना गौरवशाली अतीत रचने का प्रयास करता है। हम इस कथा साहित्य में पुलिस थाने की भौतिक उपस्थिति और घुमंतू समुदायों के दैनिक जीवन में उसके डर को देख सकते हैं। हम देख सकते हैं कि पुलिस, पितृसत्ता और दबंग जातियों की नज़र में नट, कंजर या किसी अन्य घुमंतू समुदाय की स्त्री का क्या स्थान है। *कब तक पुकारूँ* में रुस्तम ख़ाँ बात-बात में प्यारी को पुलिस थाने की धमकी देता रहता है। इस कथा साहित्य में हम औपनिवेशिक विरासत वाली पुलिस और स्थानीय प्रभुवर्ग से उसका गठजोड़ देख सकते हैं। यहाँ यह ज़रूर जोड़ा जाना चाहिए कि मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास *अल्मा कबूतरी* की नायिका पढ़ी-लिखी है और वह उपन्यास के अंत में राजनीति की ओर क़दम बढ़ा देती है।

IV

श्रेणी की निर्मिति और 'श्रेणी' से बाहर के लोग : सामाजिक न्याय का प्रश्न

औपनिवेशिक भारत की प्रशासकीय विरासत में श्रेणी की निर्मिति का सवाल महत्त्वपूर्ण सवाल था। 1935 के भारत शासन अधिनियम ने अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की श्रेणी बनाई और उन्हें प्रतिनिधित्व दिलाने की वकालत की। आज़ाद भारत में भी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय प्राप्त करने की दिशा में श्रेणी का प्रश्न महत्त्वपूर्ण प्रश्न बनकर उभरा। इसके बाद अन्य पिछड़ा वर्ग में आने वाले समुदायों की श्रेणी बनी। श्रेणीकरण की औपनिवेशिक परियोजनाओं में इन समुदायों के शैक्षिक और सामाजिक पिछड़ेपन को आधार बनाया गया था जबकि 1990 के दशक में मण्डल आयोग की सिफ़ारिशों के लागू होने के बाद पिछड़ी जातियों को आरक्षण मिला। मण्डल कमीशन की रिपोर्ट लागू होने के बाद आरक्षण उन समुदायों के लिए खेल बदल देने वाला साबित हुआ जो इसे प्राप्त करने की क्षमता अर्जित कर चुके हैं या कर सकते हैं।[29] जिन समूहों के पास थोड़ी बहुत ज़मीन रही है वे आर्थिक रूप से धीरे-धीरे उन्नति की ओर बढ़े हैं और उन्होंने सामाजिक सम्मान और राजनीतिक शक्ति प्राप्त की है।[30] इसी प्रकार अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के एक छोटे से हिस्से को दावेदारी प्राप्त करने में सफलता प्राप्त हुई है। दूसरी तरफ़ घुमंतू

---

[27] शिवप्रसाद सिंह (1989).

[28] मैत्रेयी पुष्पा (2000).

[29] अश्विनी देशपाण्डे (2013) : 66-75.

[30] रामचंद्र गुहा (2007) : 609-10.

या विमुक्त समुदाय ऐसी किसी श्रेणी में नहीं आते कि उसके आधार पर अपनी दावेदारी पेश कर सकें या उन्हें आरक्षण दिया जा सके।

वास्तव में एक लम्बे समय तक उन्होंने इस दिशा में सोचा ही नहीं। जैसा हम पहले ही रेखांकित कर चुके हैं, वे राज्य की नज़र से ओझल रहे। उन्हें वह चाहिए ही नहीं था जो राज्य अपने 'नागरिक' को देने का गुमान पालता है, जैसे ज़मीन, शिक्षा या नौकरी। उन्हें तो ज़मीन, शिक्षा या नौकरी चाहिए ही नहीं थी। घुमंतू समुदायों ने अपनी जीवन-दृष्टि खेती लायक़ ज़मीन को ध्यान में रखकर सृजित ही नहीं की। इसी के साथ, 1920 के दशक के बाद वे कभी भी इस दशा में नहीं दिखे कि ब्रिटिश शासन को अपने प्रतिनिधित्व के सवाल पर सोचने के लिए मजबूर कर सकें या कोई दवाब-समूह बना सकें। इसके अतिरिक्त घुमंतू और विमुक्त समुदायों के पास राज्य और मुख्यधारा के समाज द्वारा विकसित किये जा रहे बहिष्करण या कलंकीकरण की परियोजनाओं के विरोध में सैद्धांतिकी विकसित करने के लिए डॉ. भीमराव आम्बेडकर जैसी शख़्सियत भी नहीं थी।

संख्या आधारित चुनावी राजनीति और राज्य निर्देशित श्रेणी पर आधारित सामाजिक-विज्ञान[31] की चिंता में घुमंतू और विमुक्त समुदाय अपेक्षाकृत बाद में शामिल हुए हैं। आज देश में घुमंतू और विमुक्त जनों की जनसंख्या छह करोड़ के आसपास बताई जाती है।[32] बालकृष्ण रेणके की अध्यक्षता में गठित *नैशनल कमीशन फ़ॉर डीनोटिफ़ाइड, नोमैडिक ऐंड सेमी-नोमैडिक ट्राइब्ज़* की 2008 की रपट के अनुसार उत्तर प्रदेश में 38 समुदाय घुमंतू के रूप में और 57 समुदाय विमुक्त समुदाय के रूप में दर्ज किये गये हैं।[33] 2015 में पुन: तीन वर्ष के लिए *कमीशन ऑन डीनोटिफ़ाइड ऐंड नोमैडिक ऐंड सेमी-नोमैडिक ट्राइब्ज़* का गठन किया गया। इसका काम प्रत्येक राज्य की ऐसी जातियों की सूची बनाना और उनके कल्याण के उपाय सुझाना है।[34] एक लम्बे समय से माँग उठती रही है कि घुमंतू समुदायों की एक अलग श्रेणी बनाई जाए और उन्हें इसी के हिसाब से अलग आरक्षण दिया जाए। इस आशय की माँग 2002 में घुमंतू समुदायों के प्रतिनिधियों और उन पर काम करने वाले विद्वानों-सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं ने की थी। वे 1952 में अपराधी जनजातियों के विमुक्ति के बारे में क़ानून बनाए जाने की पचासवीं वर्षगाँठ मना रहे थे। इसमें भारत के पूर्व प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रताप सिंह भी शामिल हुए थे।[35] यह माँग अब एक चुनावी माँग में तब्दील हो चुकी है।

अप्रैल, 2014 में नरेंद्र मोदी उत्तर प्रदेश में लोकसभा का चुनाव प्रचार करने आये थे। जब वे इलाहाबाद में एक विशाल जनसभा को सम्बोधित कर रहे थे तो उसमें घुमंतू समुदायों के लोग भी शामिल हुए और इन समुदायों के एक प्रतिनिधिमण्डल ने उनसे आरक्षण की माँग करते हुए एक ज्ञापन सौंपा। इस शोध पत्र के अगले हिस्से में रेखांकित किया गया है कि घुमंतू समुदाय राजनीति के बृहत्तर दायरे से किस प्रकार जुड़ रहे हैं। तमाम शोरगुल के बावजूद इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया है कि नरेंद्र मोदी के नेतृत्व में बनी सरकार ने भिखूजी इदाते की अध्यक्षता में एक आयोग का गठन किया है और राजनीतिक पार्टियों की चुनावी कल्पना में घुमंतू समुदाय अब धीरे-धीरे शामिल हो रहे हैं। इदाते आयोग ने अपनी सिफ़ारिशें केंद्र सरकार को सौंप दी हैं। इनमें कहा गया है कि ये समुदाय ग़रीबों में भी ग़रीब और सर्वाधिक हाशियाकृत हैं। इनके लिए अलग श्रेणी बनाने के लिए आयोग ने एक संविधान

---

[31] समाज-विज्ञान में इस प्रकार के शोध आम बात हैं जिनका शीर्षक कुछ इस तर्ज़ पर होता है— भारत में अनुसूचित जातियों का एक अध्ययन; या अन्य पिछड़े वर्गों का अध्ययन. इस प्रकार जातियों का अध्ययन राज्य निर्देशित श्रेणियों का अध्ययन बन जाता है. राज्य जब चाहे किसी जाति को अन्य पिछड़ा वर्ग से अनुसूचित जाति में शामिल कर सकता है या अनुसूचित जाति की श्रेणी में शामिल किसी जाति को अनुसूचित जनजाति में शामिल कर सकता है. उत्तर प्रदेश में राज्य सरकारों ने कई बार ऐसा करने का प्रयास भी किया है.

[32] जी.एन. देवी (2006) : 21.

[33] http://socialjustice.nic.in/writereaddata/UploadFile/NCDNT2008-v1%20(1).pdf 25. 05.2016 को देखा गया.

[34] http://pib.nic.in/newsite/PrintRelease.aspx?relid=114573 25. 05.2016 को देखा गया.

[35] रमणिका गुप्ता (2015).

संशोधन की सिफ़ारिश की है। अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए बने आयोगों की तर्ज़ पर नीति आयोग ने उनके लिए एक स्थायी आयोग गठित करने की सिफ़ारिश की है। यह तो आने वाला समय बताएगा कि वे इन सिफ़ारिशों के आधार पर कोई क़दम उठाते हुए सामाजिक न्याय की परियोजनाओं को अगले चरण में ले जाती हैं या नहीं। लेकिन, दूसरी तरफ़ उत्तर प्रदेश के गाँवों में आधारभूत स्तर के बदलाव लोकतंत्र की संरचनाओं में से निकल रहे हैं। उनसे एक नये प्रकार की राजनीति विकसित हो रही है।[36]

V

रजनी कोठारी ने जाति और राजनीति के संबंधों की पड़ताल करते हुए समझने की कोशिश की थी कि इन संबंधों की कौन-सी संरचनाएँ और कौन-कौन से गठजोड़ राजनीति में क्यों और कैसे प्रवेश करते हैं?[37] इस प्रक्रिया और उसमें आ रहे बदलावों को दर्ज करने के लिए मैंने उत्तर प्रदेश के दो ज़िलों को चुना है। उद्देश्यपूर्ण सैम्पलिंग के ज़रिये मैंने गोंडा ज़िले की दो ग्राम सभाओं, तीन अस्थायी बस्तियों और इलाहाबाद ज़िले से एक ग्रामसभा को लिया है।[38] गोंडा ज़िले की दो ग्राम सभाओं में सिसई और परसदा को लिया गया है। सिसई और परसदा बेलसर विकासखण्ड के अंतर्गत आते हैं। गोंडा की तीन अस्थायी घुमंतू बस्तियों में दो बस्तियाँ बैसनपुरवा और खड़ौरा गाँव में है तो तीसरी बस्ती परसपुर बाज़ार के पास एक खुले बाग़ में है। इलाहाबाद ज़िले में मैंने बहादुर विकासखण्ड से तेंदुई ग्राम सभा को चुना है। इसके लिए एक गहन फ़ील्डवर्क फ़रवरी, 2014 से अप्रैल, 2017 के बीच किया गया था। प्रयास किया गया है कि अनुभवजन्य तरीक़े से ज़मीनी आँकड़े इकट्ठे किये जाएँ। सांख्यकीय सूचनाओं से जानबूझ कर बचा गया है। उत्तरदाताओं से बार-बार मिलकर इस विषय पर समझ बनाने का प्रयास किया गया है। उत्तर प्रदेश के दो ज़िलों में स्थित यह सभी जगहें अलग-अलग कहानी कहती हैं जिनसे गुज़रने के बाद पता चलता है कि प्रजातंत्र के स्थानीय अनुभव घुमंतू और विमुक्त समुदायों के बीच से एक ही प्रकार से नहीं गुज़रे हैं।

उत्तर प्रदेश के घुमंतू समुदायों में नट, चमरमंगता, पथरकट और महावत एक बड़े हिस्से का निर्माण करते हैं।[39] इनमें एक समानता है कि वे भैंसों का व्यापार और जड़ी-बूटी का काम करते हैं। चमरमंगता बारहों महीने भिक्षावृत्ति भी करते हैं। पथरकट पत्थर का सिल-लोढ़ा बना कर बेचने के अलावा जंगलों आदि से शहद निकाल कर बेचते हैं। नट और महावत कुश्ती भी सिखाते रहे हैं। महावत औरतें दाँत झाड़ने और कान साफ़ करने का काम करती हैं। वे भैंसों के व्यापार और उनके गर्भाधान का काम अभी भी करते हैं। पिछले कुछ वर्षों में गाँवों के अंदरूनी इलाक़ों में भी सरकारी पशु अस्पतालों ने उनके इस रोज़गार को प्रभावित किया है। जिम, शक्तिवर्द्धक दवाओं तथा फ़िल्मी सितारों से प्रभावित युवा कुश्ती में कोई रुचि नहीं रखते हैं और लाठी को पिस्तौल या बंदूक ने बेकार कर दिया है।[40] वास्तव में आज तक भारतीय समाज का प्रभुत्वशाली वर्ग और पुलिस इस औपनिवेशिक

---

[36] *दैनिक हिंदुस्तान,* 5 मई 2014. इलाहाबाद. इदाते आयोग से संबंधित जानकारी के लिए देखें, http://indianexpress.com/article/india/denotified-nomadic-tribes-may-come-under-sc-st-act-dalit-5157803/03/06/2018; और https://indianexpress.com/article/india/niti-aayog-nod-to-panel-for-denotified-semi-nomadic-nomadic-tribes-5270427/ 05/08/2018.

[37] रजनी कोठारी (2005) : 255.

[38] उद्देश्यपूर्ण सैम्पलिंग में शोधकर्त्ता को पता होता है कि उसे किन लोगों या समुदायों से मिलना है और उसका उद्देश्य किंचित स्पष्ट होता है. जहाँ तक इस शोध की बात है, इसमें अधिकांश बातें फ़ील्डवर्क के दौरान ही पता चलीं लेकिन इस शोध की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि शोधकर्त्ता को पहले से ज्ञात थी.

[39] नटों के बारे में देखिए, ई.ए.एच. ब्लंट (1969) : 150.

[40] बद्री नारायण (2013).

मानसिकता से ग्रस्त है कि विमुक्त और घुमंतू जातियाँ पेशेवर तौर पर चोर होती हैं। यदि वे कुछ पैसे बचा कर बेहतर वस्त्र धारण कर लें तो उन्हें शक़ की नज़र से देखा जाता है। पुलिस और और औपनिवेशिक रिकॉर्ड कीपिंग से उपजे सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण ने इस शक को गहरा बनाने में मदद की है।[41]

पंचायती राज व्यवस्था के संवैधानिक तरीक़े से लागू होने के बाद ग्रामीण उत्तर प्रदेश की राजनीति में कई ऐसे समुदाय महत्त्वपूर्ण हो गये हैं जिनके साथ प्रतिनिधित्व के स्तर पर पहले उपेक्षा का व्यवहार किया जाता था। अब वे चुनावी गोलबंदी में शामिल हो गये हैं। गोलबंदी करने और अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए राजनीति पहले से मौजूद और उभरती हुई निष्ठाओं की शिनाख़्त करती है और फिर उनका अपने हक़ में इस्तेमाल करती है। भारत की ग्रामीण संरचना के प्रभुत्वशाली तबके घुमंतू और विमुक्त समुदायों की अब उपेक्षा नहीं कर सकते। उनके वोट के बिना उनके लिए अपनी सत्ता को बनाए रखना मुश्किल होता है।

घुमंतू समुदायों द्वारा राजनीतिक स्पेस की रचना

प्रतिनिधिमूलक राजनीति और उसमें महत्त्व पाने की आकांक्षा अब इन समुदायों में भी देखी जा सकती है। उनका राजनीतीकरण हो रहा है। जातियों के राजनीतीकरण पर बात करते हुए रजनी कोठारी ने इस बात पर ज़ोर दिया था कि उत्पीड़ित समूहों का सामाजिक और संख्यामूलक आधार इस तरह बढ़ना चाहिए कि स्थापित या नयी संस्थाओं में वे अपनी प्रभावी उपस्थिति दर्ज करा सकें। ऐसा किये बिना पंचायती राज संस्थाएँ वास्तविक जनप्रतिनिधित्व से लैस नहीं हो सकेंगी और उन पर देहात की ऊँची जातियों और उनके माफ़िया गिरोहों का क़ब्ज़ा बना रहेगा।[41]

इधर हाल के दशकों में उत्तर प्रदेश के घुमंतू समुदायों ने स्थायी बसावट की शुरुआत की है। महावत, नट, पथरकट और चमरमंगता कहे जाने वाले समुदाय ऐसे समुदाय हैं जिन्हें स्थानीय प्रभुत्वशाली जातियों ने बाग़ों, ख़ाली पड़ी जगहों, ग्राम समाज की ज़मीनों और चकबंदी से निकली ज़मीनों पर बसाया था। पी.सी. जोशी को शिकायत थी कि भूमिधरों से भूमिहीनों के संबंध निर्धारित होने की प्रक्रिया पर शोध नहीं किया जाता।[42] हम इसे उत्तर प्रदेश में नटों के भारतीय ग्रामीण जीवन में नये राजनीतिक खिलाड़ी के रूप में प्रवेश से समझ सकते हैं। नटों को सामाजिक मानचित्र के सबसे दूर वाले छोर पर रखा गया था। 1931 की जनगणना नटों को एक्सटीरियर कास्ट्स या बहिष्कृत जातियों की श्रेणी में रखती है। यूनाइटेड प्रोविंसेज में 1931 की जनगणना में नटों की संख्या 37,038 बताई गयी है।[43] 1931 की जनगणना वर्गीकृत तरीक़े से कहती है कि नट असम, बंगाल, मद्रास, अजमेर-मेवाड़, बलूचिस्तान, बंगाल, बिहार और उड़ीसा, संयुक्त प्रांत और राजपूताना में पाए जाते थे। इन क्षेत्रों में इन्हें बहिष्कृत समझा जाता था। इन क्षेत्रों में इनकी कुल संख्या 61175 बताई गयी है।[44] आज़ादी के बाद भी इनकी स्थिति में कोई आमूलचूल परिवर्तन नहीं आया, जैसा हम 1980 के दशक के बाद अनुसूचित जातियों या अन्य पिछड़े वर्गों की राजनीति के मामले में देखते हैं।

---

[41] रजनी कोठारी (2005) : 285.
[42] पी.सी. जोशी (1975) : 82-85.
[43] सेंसस ऑफ़ इण्डिया 1931, वही : 478.
[44] वही : 492.

पिछले तीन दशकों का ग्रामीण भारतीय समाज का अनुभव बताता है कि संख्या आधारित लोकतंत्र ने कुछ ही समूहों को राजनीतिक ताक़त दी है। इस प्रक्रिया में एक बड़ा तबक़ा पीछे छूटता गया है।[45] इसी बीच 1992 के बाद पंचायती राज व्यवस्था के संवैधानिक तरीक़े से लागू होने के बाद ग्रामीण उत्तर प्रदेश की राजनीति में कई ऐसे समुदाय महत्त्वपूर्ण हो गये हैं जिनके साथ प्रतिनिधित्व के स्तर पर पहले उपेक्षा का व्यवहार किया जाता था। अब वे चुनावी गोलबंदी में शामिल हो गये हैं। गोलबंदी करने और अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए राजनीति पहले से मौजूद और उभरती हुई निष्ठाओं की शिनाख़्त करती है और फिर उनका अपने हक़ में इस्तेमाल करती है।[46] भारत की ग्रामीण संरचना के प्रभुत्वशाली तबक़े घुमंतू और विमुक्त समुदायों की अब उपेक्षा नहीं कर सकते। उनके वोट के बिना उनके लिए अपनी सत्ता को बनाए रखना मुश्किल होता है। दूसरी तरफ़ ऐसे समुदायों के लोग खुद चुनावों में प्रत्याशी के रूप में भागीदारी करने लगे हैं। स्थानीय चुनावों में भले ही अभी वे हार जाते हैं लेकिन इससे उनका राजनीतिक सबलीकरण हो रहा है। वे किन्हीं-किन्हीं जगहों पर जीत भी रहे हैं।

वास्तव में पंचायती राज संस्थाओं में प्रतिनिधित्व पाने का अर्थ यह भी होता है कि समुदायों का राजनीतिक प्रतिनिधित्व दृश्यमान हो उठता है और उपेक्षित समूह लोकतंत्र के परिसर में अपनी आवाज़ का मूल्य पहचानने लगते हैं। विद्वानों ने विधानसभाओं और लोकसभाओं के चुनाव पर पर्याप्त काम किया है जिनकी सूची मैं यहाँ प्रस्तुत नहीं करना चाहता हूँ। इन चुनावों में पंचायती राज व्यवस्था में शामिल हुए जनप्रतिनिधि प्रभावकारी भूमिका निभाते हैं। वे अपने प्रभाव का इस्तेमाल कर राजनीतिक पार्टियों को वोट दिलाने का काम करते हैं। उत्तर प्रदेश में ब्लॉक प्रमुख और ज़िला परिषद के सदस्यों के चुनाव में राजनीतिक पार्टियाँ बढ़-चढ़ कर भाग लेती हैं। इस प्रकार वे पंचायती राज की ज़मीन पर अपनी बड़ी राजनीतिक फ़सल काटने का प्रयास करती हैं। ऐसा देखा गया है कि खण्ड विकास परिषद (बीडीसी) के चुनाव जीतने वाले प्रत्याशी ब्लॉक प्रमुख के पद के ज़रिये पार्टी आधारित राजनीति में प्रवेश कर जाते हैं। इस रास्ते से घुमंतू और विमुक्त समुदाय के लोग भी पार्टी आधारित राजनीति में प्रवेश करना चाहते हैं। गोण्डा ज़िले में मेरे फ़ील्ड वर्क के दौरान परिषद के चुनाव में सफलता प्राप्त करने वाले घुमंतू समुदाय के एक ऐसे व्यक्ति ने इसी प्रकार की इच्छा ज़ाहिर की थी। उसने विधायक के चुनाव में खड़े होने की इच्छा जताई थी। किसी घुमंतू समुदाय के एक सदस्य के सामाजिक भावबोध में विधानसभा चुनावों में भाग लेने की इस आकांक्षा के निर्माण को भारतीय लोकतंत्र की उपलब्धि कहा जा सकता है।

VI

रजनी कोठारी ने आज़ादी के बाद के भारतीय समाज में जाति व्यवस्था के बारे में लिखा था कि जातियों के राजनीतीकरण की प्रक्रिया ने जाति-प्रथा के सत्तामूलक ढाँचे में आर्थिक संरक्षणों, संरक्षक-आश्रित संबंध, जाति सभाओं, रिश्तेदारियों को महत्त्वपूर्ण बना दिया। उन्होंने प्रभुत्वशाली जाति और उदीयमान जातियों में अंतर करते हुए रेखांकित किया था कि किस प्रकार इन समूहों ने उन जातियों को पटाना शुरू किया जो अभी तक सत्ता के ढाँचे से दूर रखी जाती थीं।[47] रजनी कोठारी की इस अंतर्दृष्टि को हम उत्तर प्रदेश में घट रही राजनीतिक प्रक्रियाओं, लोकतंत्र के स्थानीय अनुभवों और गतिकी को समझने के काम में ला सकते हैं। हम यह देखने का प्रयास कर सकते हैं कि यह स्थानीयता देश की बृहद राजनीति से कैसे जुड़ जाती है? इसके लिए सबसे पहले मैंने पंचायती राज प्रणाली में घुमंतू और

---

[45] बद्री नारायण (2016); बद्री नारायण (2013).

[46] रजनी कोठारी (2005) : 255.

[47] वही : 265.

विमुक्त जनों की स्थिति को रेखांकित करने का प्रयास किया है। इसके बाद यह देखने की कोशिश की है कि स्थानीय शक्ति संबंधों और जाति-पदानुक्रम के बीच पंचायती राज ने हाशिये के समुदायों के लिए किस प्रकार सत्ता प्राप्त करने की खिड़की खोली है।

इसे मैं सिसई ग्रामसभा के महावतों से शुरू करता हूँ। अपने फ़ील्ड वर्क में मैंने पाया है कि प्राय: सभी बुज़ुर्ग महावत इस बात पर ज़ोर देते हैं कि वे किसी न किसी राजे-रजवाड़े या ज़मींदार के यहाँ हाथी पालने और उसे हाँकने वाले का काम करते थे। यह दावेदारी उनके द्वारा अपवंचित वर्तमान में एक समृद्ध अतीत की रचना की कोशिश होती है। यद्यपि वे इस ग्रामसभा में लगभग तीन दशकों से बसे थे लेकिन 2005 में जब उत्तर प्रदेश में पंचायतों के चुनाव हो रहे थे तो पहली बार उनका मतदाता पहचान पत्र बना और वे इस छोटे से राजनीतिक स्पेस में एक वैध हितधारक के रूप में शामिल हो गये। इस ग्राम सभा में लगभग 1400 वोट हैं जो विभिन्न पुरवों में बसी विभिन्न जातियों से मिल कर बनती है। इस ग्राम सभा की अनुसूचित जातियों में कोरी, पासी, धोबी और चमार हैं। इनमें पासी समुदाय में लगभग 170 मतदाता, कोरी 270, धोबी 60 और चमार समुदाय में 15 मतदाता हैं। पिछड़ा वर्ग में शामिल जातियों में नाई 8, भुजवा 50, लोहार 12, लोध 45, बरई 35, बढ़ई 40, यादव 45, लोनिया 20, घरूक 50 और साईं-मुस्लिमों के 25 मतदाता हैं। महावत भी अन्य पिछड़ा वर्ग में शामिल हैं। उनकी बस्ती में मात्र 25 वोट हैं। द्विज जातियों में लगभग 230 ब्राह्मण और 250 के आसपास क्षत्रिय मतदाता हैं। उनके पास सबसे ज़्यादा और उपजाऊ ज़मीनें भी हैं। वे अन्य समुदायों की अपेक्षा शिक्षित भी हैं। पिछले दो दशकों में कुछ पिछड़े समुदायों में यादव और अनुसूचित जातियों में पासी और कोरी समुदायों के नौजवान तेल और गैस पाइप लाइनों में काम करने देश और विदेश गये हैं, उन्होंने पैसा कमाया है और गाँव में ज़मीनें ख़रीदी हैं। ज़मीनों के हस्तांतरण से ग्रामीण शक्ति संरचना इधर से उधर बदल गयी है। इसी के साथ गाँवों में दलित चेतना का विकास हुआ है। मनरेगा आया है और शिक्षा आ रही है। पिछले तीन-चार दशकों की अपेक्षा अब दलितों में बहुत कम परिवार उच्च जातियों के यहाँ खेतों पर काम करने जाते हैं।

ऐसे में जब महावतों को गाँव की सार्वजनिक ज़मीन पर बसाया गया तो कुछ बड़े किसान परिवारों को लगा कि उन्हें मज़दूर मिल जाएँगे। वे गाँव में कुछ प्रभुत्वशाली परिवारों के यहाँ मज़दूरी भी करते हैं जिसमें एक पूर्व ग्राम प्रधान का घर भी शामिल है। अभी महावतों के पुरवे का कोई प्रचलित नामकरण नहीं हुआ है और वे ग्रामसभा के सबसे बाहरी इलाक़े में बसे हैं। वास्तव में हाशियाकृत समाजिक तबक़ों की बसावटें न केवल मानव बस्तियों के सीमांत पर रही हैं बल्कि उनके नामकरण में कलंकीकरण की प्रयास देखे जा सकते हैं। दक्षिण एशिया में इन समुदायों की रहनवारी को अपमानजनक नामों से पुकारा जाता रहा है— जैसे कर्नाटक में हलगेरी, तमिलनाडु में चेरी और महाराष्ट्र में मँगवाड।[48] उत्तर प्रदेश में इन्हें चमार-पट्टी [49] या चमर-टोला या पसियन-टोला कहते हैं, भले ही उनका एक नाम हो। हिंदी में काशी नाथ सिंह का संस्मरण *घर का जोगी जोगड़ा* [50] और तुलसीराम की आत्मकथा *मुर्दहिया* में इन समुदायों की सामाजिक रहनवारी की चर्चा की गयी है।[51]

महावतों की बस्ती से सटे हुए दो प्राइमरी और जूनियर हाईस्कूल हैं जिसके खुले प्रांगण में पानी पीने के लिए एक इण्डिया मार्का हैण्ड पम्प लगा है। अभी उन्हें किसी भी सरकारी आवास योजना का लाभ नहीं मिला है। यदि केवल संख्या के हिसाब से महावतों का राजनीतिक-सामाजिक महत्त्व देखने का प्रयास किया जाए तो हम केवल सतही निष्कर्षों तक पहुँच पाएँगे लेकिन लोकतंत्र संख्या से आगे जाता है। मात्र पच्चीस वोट होने के बावजूद उनमें एक विश्वास है कि देर सवेर गाँव का कोई न कोई

---

[48] गोपाल गुरु एवं सुंदर सुरक्कै (2012) : 212.

[49] हीरा सिंह (2014) : X.

[50] काशी नाथ सिंह (2008) : 16.

[51] तुलसीराम (2011).; और देखें, रमाशंकर सिंह (2015) : 261.

प्रधान उनकी बात सुन लेगा और उनके लिए कुछ न कुछ करेगा। इसी के साथ वे इस गाँव के परम्परागत शक्ति संबंधों में एक नया आयाम जोड़ रहे हैं। 2016 में सिसई ग्राम सभा के बगल की एक ग्राम सभा के एक ऊँची जाति के किसान की दो भैंसें चोरी हो गयीं। उस किसान ने शक़ किया कि हो न हो इस चोरी में महावतों का हाथ है। उसने पुलिस को इत्तिला दी। पुलिस दो महावत नौजवानों को थाने ले गयी, उन्हें मारा-पीटा और उनका चालान कर दिया।[52] ऐसी स्थिति में उन्हें सिसई ग्राम सभा के एक प्रभावशाली परिवार ने ज़मानत दिलाने में मदद की। उन्हीं में से एक महावत नौजवान से जब मैंने बात की तो उसने बताया कि वोट ही उन्हें बचाता है। यह वोट की ताक़त है कि जब 2014 में लोकसभा के और 2017 में विधानसभा के चुनाव हो रहे थे तो सभी प्रमुख राजनीतिक पार्टियों के लोग महावतों की बस्ती में वोट माँगने गये। पहले कोई उनसे वोट नहीं माँगता था और न ही उनकी कोई सुध लेता था— यह बात इस बस्ती की सबसे बुज़ुर्ग महिला हबीबुल बताती हैं। वे यह भी बताती हैं कि पहले लोग केवल बेगार-मज़दूरी या सेवा-टहल के लिए उनके तम्बुओं के पास आते थे लेकिन जबसे वे स्थायी रूप से इस जगह पर बस गये हैं, तब से क्या छोटा क्या बड़ा उनसे चुनाव के समय वोट माँगने आता है। अब लोग उनसे गुर्रा कर नहीं बोलते, क्योंकि उनके पास वोट है। वोट की इस ताक़त ने उन्हें ऊँची और दबंग जातियों की शारीरिक और वाचिक हिंसा से सुरक्षित किया है।

यहाँ से अब हम एक दूसरी ग्राम सभा परसदा चलते हैं। इस ग्राम सभा की आबादी चार हज़ार के आसपास है और कुल 2550 मतदाता हैं। इसमें ब्राह्मण, कुर्मी, मुस्लिम-नाई, पासी, मौर्य, धोबी, यादव, लोनिया, भुजवा, महावत और पथरकट जातियों के लोग शामिल हैं। इसमें महावत और पथरकट स्वयं बताते हैं कि वे बाबा-आदम के जमाने से इस गाँव में बसे हैं जबकि दूसरी जातियों के बुज़ुर्ग कहते हैं कि वे साठ या सत्तर साल पहले यहाँ बसना शुरू हुए थे। इस ग्रामसभा में 2015 के पंचायती राज चुनाव में पथरकट समुदाय का एक व्यक्ति हरिश्चंद्र ब्लॉक का चुनाव जीत गया। परिषद के प्रतिनिधि ब्लॉक प्रमुख को चुनते हैं। ख़ास बात यह रही है कि ग्रामसभा में इस समुदाय के लोगों की संख्या 125 के आस-पास है जबकि चुनाव में उसे 592 मत मिले। यह दिखाता है कि इस ग्रामसभा के अन्य समुदायों ने विजयी प्रतिनिधि को वोट दिया। उत्तर प्रदेश में पथरकट समुदाय पत्थर काट कर और उससे गृहोपयोगी वस्तुएँ बनाकर अपनी जीविका चलाता रहा है। इसके अलावा उसकी आय एक साधन शहद इकट्ठा कर बेचना है। पहले वे खरगोश और लोमड़ी जैसे छोटे जानवरों का शिकार भी करते थे। कई कारणों से यह अब सम्भव नहीं रह गया है। घने जंगल और झाड़ियाँ लगातार ख़त्म होते गये हैं। इसी के साथ 1972 में वन्य जीवों के संरक्षण के लिए बने क़ानून ने शिकार को प्रतिबंधित कर दिया है। उन्हें अपनी जीविका और प्रोटीन की आवश्यकता के लिए नये स्रोत खोजने पड़े हैं।[53] इसी बीच पिछले तीन दशक से वे स्थानीय ईंट भट्ठों पर ईंट ढोने का काम करने लगे हैं। वे सड़क के किनारे छोटी-मोटी स्थायी सम्पत्तियों के स्वामी भी हैं। अब वे गाँव में अवांछित नहीं हैं और चुनाव जीत सकते हैं। लोकतंत्र की इस परिधि में शामिल होने के लिए उन्हें ग्राम समुदायों की सार्वजनिक कल्पना में एक स्थान बनाना पड़ा है। इस ग्रामसभा में बसे घुमंतू समुदायों के लोग लोकसभा और विधानसभा की चुनावी-प्रक्रिया से अन्य जातियों के लोगों की तरह जुड़ चुके हैं।

---

[52] बिहार की अनुसूचित जातियों में शामिल कुरारियर समुदाय के लोगों को 2007 में जातिगत हिंसा का सामना करना पड़ा. इस हिंसा की गतिकी और सामाजिकी की पड़ताल करते हुए संजय कोलेकर का लेख रेखांकित करता है कि इसके मूल में कुरारियर समुदाय का अर्द्ध-घुमंतू होना रहा है. इसके कारण उन्हें औरों से ज़्यादा हिंसा का सामना करना पड़ता है. वे यह भी बताते हैं कि राज्य ने अपनी सुविधा के लिए इस समुदाय को अनुसूचित जाति की श्रेणी में शामिल तो कर रखा है, लेकिन उसका कोई तर्कसंगत आधार नहीं है. संजय कोलेकर (2008). राज्य की सुविधा और श्रेणीकरण की राजनीति को उत्तर प्रदेश में भी देखा जा सकता है.

[53] हालाँकि यह इस शोधपत्र से जुड़ा मुद्दा नहीं है लेकिन यहाँ यह ध्यान दिलाना आवश्यक है कि शिकार पर प्रतिबंध लगने से बहेलिया और मिर्सकार जैसी जातियों को अपनी जीविका गँवानी पड़ी है.

इलाहाबाद में मुस्लिम नट

मुस्लिम नट वाराणसी, इलाहाबाद, बाराबंकी और जौनपुर ज़िले में पाए जाते हैं। यह समुदाय छह उपसमुदायों में बँटा है। इनके नाम हैं— अमन, गोलेरी, महावत, रारी, सियारमरौवा और तुकलता। गोलेरी बंदर या भालू नचाते हैं। अमन भीख माँगते हैं। रारी जादूगरी का काम करते हैं और सियारमरौवा सियार मारकर खाते हैं। महावत हाथी हाँकने का काम करते थे।[54] सिसई और परसदा में प्रभुत्वशाली जातियाँ क्रमश: ठाकुर और ब्राह्मण हैं तो इलाहाबाद की ग्रामसभा तेंदुई, विकासखण्ड बहादुरपुर में पटेल प्रभुत्वशाली स्थिति में है। इस ग्रामसभा में 2950 मतदाता हैं। कुर्मियों के सबसे ज़्यादा 500 मत हैं। इसके बाद मुस्लिम नटों के 400 वोट हैं। यादव 200, मुस्लिम 250, गड़रिया 250, बिंद 100 और कुम्हार समुदाय के 175 के करीब मत हैं। अनुसूचित जाति में शामिल चमार, पासी, खटिक और धोबी क्रमश: 850, 100, 80 और 50 मत हैं। कुछ अन्य जातियों के लोग भी हैं।

बहादुरपुर ग्रामसभा में नट समुदाय 1960 के आसपास से स्थायी रूप से बसा है। 1968 में इस ग्रामसभा में चकबंदी हुई तो कुछ और ज़मीनें ग्रामसभा के पास आयीं। इस बात पर काम हुआ है कि भारत के ग्रामीण समाज और खेतिहर समुदायों में किस प्रकार के परिवर्तन आये हैं। कुछ समाजशास्त्रियों ने अपने फ़ील्ड को पुनर्व्याख्यायित करने का प्रयास किया है[55] फिर भी इस विषय पर ऐसा कोई ख़ास काम नहीं किया गया है जिससे यह पता चल सके कि उत्तर प्रदेश में चकबंदी के कारण ग्राम्यता और उसके शक्ति संबंधों का किस प्रकार पुनर्संयोजन हुआ है और इससे किस प्रकार के बदलाव आये हैं। ग्रामसभा में चकबंदी से निकली ज़मीनों के पुनर्वितरण के मामले में ग्राम प्रधान के हाथ में पर्याप्त शक्ति आ जाती है। इन ज़मीनों का वितरण कर वह गाँव में अपने समर्थक तैयार कर सकता है और ज़मीन से निर्धारित होने वाले ग्रामीण शक्ति संरचना तंत्र को बदल सकता है। बहादुरपुर में पटेल जाति के मुखिया ने कुछ ज़मीनें इस समुदाय को दीं जिससे वे उनके खेतों पर काम कर सकें। इस ग्रामसभा में भी पंचायती राज ने स्थायी शक्ति समीकरणों को बदला है। पटेलों का वर्चस्व होने के बावजूद उनकी आवाज़ अन्य समुदायों के प्रति नरम पड़ी है क्योंकि अब उन्हें चुनाव में मुस्लिम नटों के वोट चाहिए। दूसरी तरफ़ मुसलमान नट समुदाय में भी अपना जन प्रतिनिधि चुनने की आकांक्षा है। इस नट समुदाय का एक व्यक्ति 2005 में ग्राम प्रधान का चुनाव हार चुका है।

प्राय: इस बात पर चर्चा होती है कि किसी समुदाय का व्यक्ति जब चुनाव जीत जाता है तो उस व्यक्ति विशेष और समुदाय का आत्मविश्वास और दावेदारी बढ़ जाती है, लेकिन हमें इस बात पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है कि जो लोग या समुदाय चुनाव में हार जाते हैं, उनके जीवन में भी सबलीकरण की झलक मिल सकती है। इलाहाबाद के इस परिवार में मैंने यह पाया है कि चुनाव में हारने के बावजूद उसकी दावेदारी अपने समुदाय के बीच काफ़ी सम्मानजनक थी। जो लोग चुनाव जीत रहे थे, वे उसे तवज्जो दे रहे थे। लोकतंत्र चुनाव में हारे हुए लोगों को भी सबलीकृत करता है। इस समुदाय के एक युवा ने एक बार थोड़े गुस्से के साथ कहा था कि अगर उसके लोग ग्राम प्रधान का चुनाव जीत जाएँगे तो उन्हें ग्राम सभा की ख़ाली ज़मीनों में से कुछ पर ज़रूर पट्टा मिल जाएगा। उसका यह गुस्सा भविष्य की गोलबंदियों और मोलभाव को जन्म देगा जिसमें घुमंतू समुदायों को नज़रंदाज नहीं किया जा सकेगा।

[54] के. एस. सिंह (2005) : 1053–54.

[55] http://www.epw.in/review-rural-affairs 06. 07. 2016.

VII
लोकतंत्र के परिसर में

वर्तमान उत्तर प्रदेश में घुमंतू और विमुक्त समुदाय लोकतंत्र के परिसर में अपनी जगह तलाश रहे हैं। वे स्थानीय चुनाव जीत रहे हैं, हार रहे हैं या उसे प्रभावित कर रहे हैं तो कुछ जगहों पर उनकी स्थिति अच्छी नहीं है। हम फिर गोंडा ज़िले की ओर लौटते हैं। इस ज़िले में मैंने उन समूहों पर भी ध्यान केंद्रित किया है जो अभी घूम रहे हैं और किसी स्थायी बसावट के इंतज़ार में हैं। वास्तव में उत्तर प्रदेश में कई घुमंतू समुदाय प्रदेश के ग्रामीण भू-दृश्य में इस प्रकार विचरते हैं जैसे पानी में मछली। मुख्यधारा में पहुँच चुके लोग उनकी संख्या, उपस्थिति, बोली-भाषा और आवाज़ पर ध्यान नहीं देते हैं।[56] वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते रहते हैं और कोई खुली जगह, बाग़, बरगद या पीपल का पेड़ पाकर रुक जाते हैं। उनकी कोशिश रहती है कि गाँव के कम से कम एक प्रभुत्वशाली व्यक्ति का उन्हें समर्थन मिल जाए। यह व्यक्ति उन्हें अपने खेतों से ले कर अन्य जगहों पर काम देता है, बदले में उन्हें पैसे, अनाज, पशुओं के लिए भूसा या कुछ अन्य ज़रूरी चीज़ें जैसे झोपड़ी के लिए बाँस आदि मिल सकते हैं। गाँव की सीमा में बसने के बाद धीरे-धीरे घुमंतू जन गाँव में अन्य लोगों से सम्पर्क बढ़ाते हैं। वे समुदाय जो भैंस और भैंसा पालते हैं वे किसानों के मददगार साबित होते हैं। अगस्त से नवम्बर तक भैंस का गर्भाधान काल होता है। नट, महावत या चमरमंगता अपने नर भैंसे के द्वारा किसी किसान की भैंस का गर्भाधान कराता है। बदले में वह पैसा या अनाज लेता है। ऐसी भैंस जो गर्भ धारण नहीं कर पाती है उसे वे अपने पास रख लेते हैं और एक निश्चित राशि या किसी अन्य मौखिक अनुबंध के द्वारा किसान से अपनी बात पक्की कर लेते हैं। भैंस के गर्भवती हो जाने पर वे उसे उसके मालिक को लौटा देते हैं। यह प्रक्रिया कई महीनों तक चलती है और कई किसानों के साथ उनका एक भरोसा स्थापित हो जाता है।

अपने समुदाय के अंदर भी घुमंतू समुदाय एक आंतरिक गतिशीलता बनाए रखते हैं और अपने को मज़बूत बनाने का प्रयास करते हैं। गोंडा ज़िले में परसपुर के पास बर्धई बाज़ार में बसा परिवार वहाँ से चौदह किलोमीटर दूर खड़ौरा ग्राम सभा से जुड़ा है। बर्धई बाज़ार में सन्नाम अपनी पत्नी, बच्चों और बेटी-दामाद के साथ रहता है। उसके साथ उसकी बहन सुनीता भी रहती है। सुनीता का विवाह मंगीश से हुआ है। मंगीश एक नौटंकी कम्पनी में नाचते भी हैं। सुनीता ने बताया कि वह परसपुर अपनी भाभी के यहाँ आयी है। इसके बाद वह खड़ौरा जाएगी। वहाँ के ग्राम प्रधान ने उसे कॉलोनी देने का वादा किया है और कहा है कि वे उसका वोटर कार्ड बना देंगे। खड़ौरा में पहले से ही उसका बहनोई गोपाल है। गोपाल को लोग वहाँ पहचानते हैं। गोपाल भी पहले नाचते थे, अब वे विवाहों और छोटे उत्सवों में कैसियो बजाते हैं। अब उनका छोटा भाई गामा नाचता है। उनके पिता बाबादीन इस नाच कम्पनी में हारमोनियम बजाते हैं। इस नाच कम्पनी को खड़ौरा ग्रामसभा का झिनकू नामक व्यक्ति चलाता है। झिनकू लोध जाति का है और उसका गाँव की राजनीति में प्रभाव है। वह गोपाल और मंगीश के परिवार को अपनी नौटंकी कम्पनी में रोज़गार देता है। बदले में यह परिवार उनके कहने पर वोट देता है। इन सभी का मतदाता पहचान पत्र 2015 में बना है और उन्होंने पहली बार पंचायती राज चुनावों में वोट डाला। नये ग्राम प्रधान ने उन्हें सरकारी आवास दिलाने का वादा किया लेकिन उनके पास ज़मीन नहीं है। उन्हें अभी ग्राम समाज से कोई पट्टा भी नहीं मिला है। इसलिए उन्होंने उसी गाँव में ज़मीन ख़रीदी है। इस साल के अंत तक शायद उन्हें किसी सरकारी योजना से कोई आवास बनाने का अवसर मिल जाए। इस प्रकार वादे की राजनीति भी घुमंतू जनों को स्थायी रूप से बसने को प्रेरित कर रही है।

---

[56] रमाशंकर सिंह (2016).

घुमंतू समुदायों के लोग, विशेषकर नट, पथरकट, महावत और चमरमंगता ग्रामीण स्पेस में अपने लिए गुंजाइश ढूँढ़ते रहते हैं जहाँ उन्हें बसने की जगह मिल सके। इस दिशा में पंचायती राज घुमंतू जातियों के लिए बड़ी गुंजाइश लेकर आया है। एक बार किसी गाँव की मतदाता सूची में शामिल होने के बाद उन्हें लोक सभा और विधानसभा में वोट डालने का अधिकार स्वत: मिल जाता है और वे राष्ट्र की राजनीतिक आत्मा से जुड़ जाते हैं। वास्तव में रिश्तेदारियों द्वारा घुमंतू समुदाय अपना एक सांस्कृतिक संजाल बुन देते हैं। रिश्तेदार न केवल एक दूसरे की मदद करते हैं बल्कि वे उनके आचरण और चरित्र के गारंटर के रूप में काम करते हैं। मैंने पाया है कि जब उनसे पूछा जाता है कि आप यहाँ पर कितने दिन से रह रहे हैं तो वे बताते हैं कि वे अमुक जगह पर लम्बे समय से रह रहे हैं और बगल के गाँव या क़स्बे में अमुक व्यक्ति उनका रिश्तेदार है, जिसे उस गाँव के प्रधान या गणमान्य लोग जानते हैं। ऐसा कह कर वे अपने अंदर के उस भय को भगा देना चाहते हैं जिसकी इस लेख के पिछले भाग में चर्चा की गयी है और जिसे अंग्रेज़ी राज और उसके भारतीय उत्तराधिकारी राज्य ने उनकी चेतना पर आरोपित कर दिया है।

सरकारी अभिलेख में आ जाने से कमज़ोर तबक़ों को लगता है कि उन्हें वे लाभ मिल जाएँगे जो सरकार नागरिकों को देती है। परसपुर बाज़ार के पास चमरमंगता समुदाय की एक महिला ने मुझसे कहा था कि मैं उसकी बात ध्यान से काग़ज़ में लिख लूँ — *इ कगदवा सरकार तक पहुँचाय दैत्यो तव बहुत मिहरबानी होत। हमहूँ का घर दुआर मिल जात। कागद सरकार के घरे तक पहुँचाय दिह्यो* (यह काग़ज़ सरकार तक पहुँचा देते तो आपकी बहुत मेहरबानी होती। मुझे भी घर-द्वार मिल जाता। इस काग़ज़ को सरकार के घर तक पहुँचा देना।)

परसपुर से मात्र छह किलोमीटर दूर बैसनपुरवा गाँव की एक बाग़ में लगभग 50 लोगों का एक समूह है। यह सभी चमरमंगता समुदाय से हैं। यहाँ उनकी संख्या ज़्यादा है इसलिए वे परसपुर के घुमंतू परिवारों की अपेक्षा भावनात्मक रूप से सुरक्षित दिखते हैं लेकिन भौतिक स्थिति उन्हीं की तरह है। सम्पत्ति के नाम पर इनके पास भैंस-भैंसा, कुत्ते और मुर्गों का झुण्ड है। मज़दूरी और भिक्षा के साथ शादी-विवाहों में यह लोग नाचने का काम करते हैं। वे इस गाँव के इर्द-गिर्द कहीं स्थायी तरीक़े से बसना चाहते हैं। उन्हें अभी कोई जगह नहीं मिल रही है, वे मुझसे ही सवाल पूछ लेते हैं कि बसे तो कहाँ बसें? इस बस्ती की एक वृद्ध महिला ने कहा था कि जिनके पास थोड़ी ज़मीन है, वह थोड़ी सी बेजा ज़मीन भी क़ब्ज़ा लेते हैं। हमारे पास तो पाँव रखने की जगह नहीं है इसलिए हम

ज़मीन क़ब्ज़ा नहीं सकते हैं। इसलिए हम लगातार चल रहे हैं।

मुझे अप्रैल, 2018 में जब इस शोधपत्र की पूर्व-समीक्षा मिली तो समीक्षक की एक आपत्ति का निस्तारण करने के उद्देश्य से मैं फिर उसी बाग़ में गया लेकिन वे लोग वहाँ नहीं थे।[57] उन्हें बाग़ के मालिक ने कोई दूसरी जगह देखने को कह दिया था। अब वे वहाँ से दो सौ मीटर पश्चिम में एक श्मशान के किनारे बस गये हैं। जहाँ पर वे अपना डेरा डाले हुए हैं, वहाँ कोई छतनार पेड़ भी नहीं है। नीम के दो छोटे पेड़ों के नीचे वे दिन बिताते हैं और रात खुले आसमान के नीचे, जैसा शायर मजाज़ ने लिखा था- उनकी कहीं ज़मीन नहीं है। तीस वर्षीय युवक रमेश[58] ने कहा कि हम स्थायी पता इसलिए चाहते हैं क्योंकि इससे पुलिस का डर समाप्त हो जाएगा। चोरी दुनिया के किसी भी कोने में हो, पकड़ हमें ले जाते हैं। बेवजह दो-चार लाठी मार कर नाम और सवाल पूछते हैं। इन लोगों के पास आधार कार्ड है।[59] आधार कार्ड में जो पता छपा है, वह उस गाँव में छूट गया है जिसे अब वे छोड़ चुके हैं। अभी उनके पास मतदाता पहचान पत्र नहीं है। एक सुविधाजनक भाषा में क्या उन्हें 'अर्द्धनागरिक' कहा जा सकता है? लेकिन यह तो अपमानजनक नामकरण है। रमेश और उसकी माँ ने कहा कि वे इस कोशिश में हैं कि उनका मतदाता पहचान पत्र बन जाए और वे भी इस गाँव के स्थायी निवासी बन जाएँ। निवासी बनने के बाद उन्हें लोकतंत्र के प्राथमिक दायरे तक यानी मतदाता बूथ तक जाने की एक पगडण्डी खुल जाएगी।

भले ही अधिकांश घुमंतू समुदाय निरक्षर हैं, लेकिन वे अक्षर की ताक़त जानते हैं। वास्तव में उत्तर-औपनिवेशिक देशों में अक्षर यानी अभिलेख की बड़ी महत्ता है। अभिलेख ही शासन की आत्मा है। हर व्यक्ति का लेखा-जोखा सरकारी अभिलेख में होता है। सरकारी अभिलेख में आ जाने से कमज़ोर तबक़ों को लगता है कि उन्हें वे लाभ मिल जाएँगे जो सरकार नागरिकों को देती है। परसपुर बाज़ार के पास चमरमंगता समुदाय की एक महिला ने मुझसे कहा था कि मैं उसकी बात ध्यान से काग़ज़ में लिख लूँ — *इ कगदवा सरकार तक पहुँचाय दैत्यो तव बहुत मिहरबानी होत। हमहूँ का घर दुआर मिल जात। कागद सरकार के घरे तक पहुँचाय दिह्यो* (यह काग़ज़ सरकार तक पहुँचा देते तो आपकी बहुत मेहरबानी होती। मुझे भी घर-द्वार मिल जाता। इस काग़ज़ को सरकार के घर तक पहुँचा देना।)

लोकतंत्र की दहलीज पर खड़े समुदायों को यह आशा है कि लोकतंत्र एक न एक दिन उनकी आवाज़ को ज़रूर सुन लेगा। जब यह आवाज़ सुन ली जाएगी तो उन्हें एक घर यानी स्थायी पता प्राप्त हो जाएगा और वे लोकतंत्र रचने की प्रक्रिया में शामिल हो जाएँगे।

संदर्भ

अमर सिंह (1995), *अमरकोश:* (सं.), मन्नालाल अभिमन्यु, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी.

अश्विनी देशपाण्डे (2013), *अफ़र्मेटिव एक्शन इन इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

असराल-उल-हक़ मजाज़ (2010), *कुल्लियात-ए-मजाज़,* महफ़िल-ए-गंग-ओ-जमन, कोलकाता.

आलोका पाराशर-सेन (2004), *सबॉर्डिनेट ऐंड मार्ज़िनल ग्रुप्स इन अर्ली इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

आंद्रे बेते (1992), *द बैकवर्ड क्लास इन कंटेम्परेरी इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

ऑक्सफ़र्ड एडवांस लर्नर्स डिक्शनरी, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

---

[57] 27 से 29 अप्रैल, 2018 के बीच किया गया फ़ील्ड वर्क.

[58] इस लेख में अधिकांश उत्तरदाताओं के नाम बदल दिये गये हैं.

[59] आधारकार्ड के मनो-राजनीतिक पहलू, निजता के अधिकार, नागरिकों का राज्य से संबंध आदि पर पूरे देश में गहन और तीक्ष्ण बहसें चल रही हैं, लेकिन हम इससे इंकार नहीं कर सकते कि आधारकार्ड ने कुछ समुदायों को थोड़ी राहत दी है.

ई.ए.एच. ब्लंट (1969), द *कास्ट सिस्टम ऑफ़ नॉर्दन इण्डिया : विद स्पेशल रिफ़रेंस ऑफ़ युनाइटेड प्रोविंस ऑफ़ आगरा ऐंड अवध,* एस. चंद ऐंड कम्पनी, नयी दिल्ली.

ए.एल. बाशम (2004), द *वंडर दैट वाज़ इण्डिया,* पिकाडोर, लंदन.

क्लाउड लेवी-स्ट्रॉस (1976), *स्ट्रक्चरल एंथ्रोपोलॅजी-2,* पेंगुइन बुक्स, न्युयॉर्क.

के.एम. अशरफ़ (1970), *लाइफ़ ऐंड कंडीशंस ऑफ़ द पीपुल ऑफ़ इण्डिया,* मुंशी राम मनोहरलाल, नयी दिल्ली.

के.एस. सिंह (2005), *पीपुल ऑफ़ इण्डिया : उत्तर प्रदेश,* खण्ड 2, मनोहर एवं एंथ्रोपोलॅजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया, नयी दिल्ली.

जी.एन. देवी (2002),(सं.), *पेंटेड वर्ड्स : ऐन एंथोलॅजी ऑफ़ ट्राइबल लिटरेचर,* पूर्वा प्रकाशन, बडोदरा.

--------(2006), *अ नोमेड कॉल्ड थीफ़ : रिफ़्लेक्शंस आन आदिवासी साइलेंस,* ओरिएंट ब्लैकस्वान, हैदराबाद.

--------(सं.)(2013), *नैरेटिंग नोमेडिज़्म : टेल्स ऑफ़ रिकवरी ऐंड रेजिस्टेंस,* रूटलेज, नयी दिल्ली.

डी.एन. मजूमदार (1944), द *फ़ार्च्यूंस ऑफ़ प्रिमिटिव ट्राइब,* युनिवर्सल पब्लिशर्स लिमिटेड, लखनऊ.

निकोलस डर्क्स (2015), *ऑटोबायोग्रॉफ़ी ऑफ़ एन आर्काइव : अ स्कॉलर पैसेज टू इण्डिया,* पर्मानेंट ब्लैक, रानीखेत.

पी.सी. जोशी (1975), *लैंड रिफ़ॉर्म्स इन इण्डिया : ट्रेंड्स ऐंड पर्सपेक्टिव्ज़,* एलाइड पब्लिशर्स, मुम्बई.

पैट्रिक ओलिवेल (2014), *किंग, गवर्नेंस ऐंड लॉ इन ऐंशियंट इण्डिया : कौटिल्याज़ अर्थशास्त्र,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

बद्री नारायण (2011), द *मेकिंग ऑफ़ दलित पब्लिक : उत्तर प्रदेश, 1950-प्रज़ेंट,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

------- (2013), 'लोकतंत्र का भिक्षुगीत : अति-उपेक्षित दलितों के अध्ययन की एक प्रस्तावना', *प्रतिमान समय समाज संस्कृति,* जनवरी-जून, सीएसडीएस वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

बद्री नारायण (2016), *फ्रेक्चर्ड टेल्स : इनविज़िबल इन इण्डियन डेमॉक्रैसी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

भूंग्या भूक्या (2010), *सब्जुगेटेड नोमेड्स : द लम्बाडाज़ अण्डर द रूल ऑफ़ निज़ाम,* ओरियंट ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली.

मीना राधाकृष्ण (2001), *डिसऑनर्ड बाइ हिस्ट्री : 'क्रिमिनल ट्राइब्ज़'* ऐंड *ब्रिटिश कॉलोनियल पॉलिसी,* ओरियंट लॉन्गमैन, नयी दिल्ली.

रजनी कोठारी (2005), *भारत में राजनीति- कल और आज,* अनुवाद और प्रस्तुति : अभय कुमार दुबे, सीएसडीएस-वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

रमणिका गुप्ता (2015), *विमुक्त-घुमंतू जातियों का मुक्ति संघर्ष,* कल्याणी शिक्षा परिषद्, नयी दिल्ली.

रमाशंकर सिंह (2015), 'बंसोड़, बांस और लोकतंत्र', *प्रतिमान समय समाज संस्कृति,* जनवरी-जून, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

-------- (2016), 'महावतों की बोली', बद्री नारायण (सं.), *उत्तर प्रदेश की भाषाएँ,* ओरियंट ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली.

रांगेय राघव (2013), *कब तक पुकारूँ,* राजपाल ऐंड संस, नयी दिल्ली.

रामचंद्र गुहा (2007), *इण्डिया आफ़्टर गाँधी— द हिस्ट्री ऑफ़ वर्ल्ड्स लार्जेस्ट डेमॉक्रैसी,* पिकाडोर, इण्डिया.

रामशरण शर्मा (1992), *प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

---------(2009), *शूद्रों का प्राचीन इतिहास,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

रोमिला थापर (2013), द *पास्ट बिफ़ोर अस : हिस्टोरिकल ट्रेडिशन ऑफ़ अर्ली इण्डिया,* पर्मानेंट ब्लैक, रानीखेत.

विश्वम्भर शरण पाठक (2007), *भारत के प्राचीन इतिहासकार,* (अनु.) प्रदीपकांत चौधरी, ग्रंथ शिल्पी, नयी दिल्ली.

शिवप्रसाद सिंह (1989), *शैलूष,* नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

संजय कोलेकर (2008), 'वायलेंस अगेंस्ट नोमेडिक ट्राइब्ज़', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* जून 28.

सुमित गुहा (1998), 'लोअर स्ट्रैटा, ऑल्डर ऑर्डर्स, ऐंड अब्रॉज़िनल पीपुल्स : रेशियल एंथ्रोपोलॅजी ऐंड मिथिकल हिस्ट्री, पास्ट ऐंड प्रजेंट', *जर्नल ऑफ़ एशियन स्टडीज़,* खण्ड 57, संख्या 2, मई .

सुमित गुहा (1999), *एनवायरनमेंट ऐंड एथ्निसिटी इन इण्डिया : 1200-1991,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

सुमित सरकार (2014), *मॉडर्न टाइम्स : 1880–1950*, पर्मानेंट ब्लैक, रानीखेत.

सेंसस ऑफ़ इण्डिया (1986), खण्ड 1, ज्ञान पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

वेब पेज:

http://socialjustice.nic.in/writereaddata/UploadFile/NCDNT2008-v1%20(1).pdf

http://pib.nic.in/newsite/PrintRelease.aspx?relid=114573

http://www.epw.in/review-rural-affairs

http://pib.nic.in/newsite/PrintRelease.aspx?relid=114573

http://differenttruths.com/cover-story/numbers-language-and-story-a-nomadic-perspective/